



पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र और नागार्जुन के उपन्यासों में सामाजिक वैशम्य का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. देवी कृष्णा

सहायक प्रवक्ता, हिन्दी विभाग

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

सारांश

समाज में परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन आते रहते हैं। जब ये सामाजिक परिवर्तन सामाजिक मूल्यों को तोड़ने लगते हैं, उस समय वहाँ सामाजिक समस्या का जन्म होता है। स्वतन्त्रता के पश्चात समाज का रूप भी बदला। व्यक्ति की आवश्यकताओं के साथ-साथ मानव-मूल्य, जीवन संघर्ष भी बदले। फलस्वरूप मानव ने स्वयं को नवीन सामाजिक समस्याओं से घिरा पाया और अनचाहे और अनजाने संकट के बादल उस पर मंडराने लगे। मनुष्य के स्वयं का अस्तित्व खतरे में पड़ गया, जीवन और परिवेश के बीच जो कुछ घटित हुआ उसके लिए वही जीवन बन गया। उन्हीं के आधार पर मूल्यों की खोज की जाने लगी एवं जीवन की आन्तरिक एवं बाह्य आवश्यकताओं के आधार पर कुछ कसौटियाँ बनाई गईं। आज पुराने मूल्यों का ढाँचा डगमगा रहा है, वहीं नये मूल्य स्थापित हो रहे हैं। जीवन की वास्तविकता का सही रूप साहित्य में ही देखने को मिलता है। इसमें जीवन को गहराई से जानने और समझने का अवसर मिलता है। उपन्यास जीवन के वास्तविक रूप को हमारे समक्ष रखता है और दिशा प्रदान करता है।

समाज में परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन आते रहते हैं। जब ये सामाजिक परिवर्तन सामाजिक मूल्यों को तोड़ने लगते हैं, उस समय वहाँ सामाजिक समस्या का जन्म होता है। स्वतन्त्रता के पश्चात समाज का रूप भी बदला। व्यक्ति की आवश्यकताओं के साथ-साथ मानव-मूल्य, जीवन संघर्ष भी बदले। फलस्वरूप मानव ने स्वयं को नवीन सामाजिक समस्याओं से घिरा पाया और अनचाहे और अनजाने संकट के बादल उस पर मंडराने लगे। मनुष्य के स्वयं का अस्तित्व खतरे में पड़ गया, जीवन और परिवेश के बीच जो कुछ घटित हुआ उसके लिए वही जीवन बन गया। उन्हीं के आधार पर मूल्यों की खोज की जाने लगी एवं जीवन की आन्तरिक एवं बाह्य आवश्यकताओं के आधार पर कुछ कसौटियाँ बनाई गईं। आज पुराने मूल्यों का ढाँचा डगमगा रहा है, वहीं नये मूल्य स्थापित हो रहे हैं। जीवन की वास्तविकता का सही रूप साहित्य में ही देखने को मिलता है। इसमें जीवन को गहराई से जानने और समझने का अवसर मिलता है। उपन्यास जीवन के वास्तविक रूप को हमारे समक्ष रखता है और दिशा प्रदान करता है। सामाजिक विसंगतियों के अन्तर्गत मानवीय सम्बन्धों में घटित होने वाली समस्या, सामाजिक कार्य क्षेत्र के किसी पहलू में घटित होने वाली समस्या आती है। नैसर्गिक या भौतिक समस्याएँ नहीं। सामाजिक समस्याएँ जटिल भी होती हैं और परस्पर सम्बद्ध भी होती हैं। जैसे औद्योगिकरण एवं नगरीकरण के साथ बेकारी, निर्धनता, वेश्यावृत्ति एवं भ्रष्टाचार आदि की समस्याएँ गुम्फित होती हैं। जातिवाद के साथ सामाजिक स्तरीकरण की विकृति जुड़ी है। समाज में फैली आर्थिक विषमता के कारण अनेक सामाजिक विकृतियाँ उत्पन्न हुई हैं। साहित्यकार समाज की संवेदनाओं से अछूता नहीं रह सकता, वह समाज में ऐसी ही विसंगतियों को चुनता है। उपन्यास में इस समाज को विस्तृत फलक पर उकेरा जाता है। अतः समाज की विविध विकृतियाँ उपन्यासों में चित्रित होकर विस्तार पाती हैं। साहित्यकार सामाजिक नियमों का अंकन कर सुधी पाठक वर्ग की चेतना को जगाने का ही प्रयास नहीं करता अपितु इन समस्याओं से निपटने का रास्ता भी परोक्ष रूप से सुझाता है। उपन्यासकार का दृष्टिकोण यथार्थवादी होने के कारण उसे एक जागरूक द्रष्टा भी कहा जा सकता है। वह जिस युग में जीता है, जिस समाज में जीता है, उन्हीं का चित्रण करना उसका उद्देश्य होता है। इसलिए अपने उपन्यासों में समाज से जुड़ी विकृतियों का चित्रण करता है। वास्तव में उपन्यास और समाज का अन्तर्सम्बन्ध है। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं। जैसे धागे के बिना सूई का अस्तित्व नहीं हो सकता, उसी प्रकार सूई के बिना धागे का कोई महत्त्व नहीं

होता। ठीक उसी प्रकार उपन्यास समाज के बिना और समाज उपन्यास के बिना अधूरा है। नागार्जुन एवं उग्र ख्याति प्राप्त बहुचर्चित उपन्यासकार हैं। उन्होंने सामाजिक उपन्यास लेखन में ही अधिक रुचि दिखाई है। इनका दृष्टिकोण यथार्थवादी रहा है और यथार्थवादी दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज और उसकी बहुत सी समस्याओं, विकृतियों, विसंगतियों को अपने उपन्यासों के पात्रों के माध्यम से सजीव अभिव्यक्ति प्रदान की है। दोनों ही उपन्यासकार अपने समय के चर्चित व्यक्तित्व रहे हैं। दोनों ने ही समाज को अपनी नंगी आँखों से देखकर सामाजिक नग्नता को परत-दर-परत उधेड़ा है। भारतीय समाज-व्यवस्था ने वर्ण-व्यवस्था का एक ऐसा जिरहबख्तर पहन रखा है, जिस पर लगातार हमले होते रहते हैं फिर भी वह टूट नहीं पाई।ⁱ मध्यकाल में जब राजनीति का आधार धर्म और ईश्वर ही था, तब भी कबीर, दादूदयाल, रैदास आदि कितने ही संत कवियों ने वर्ण-व्यवस्था और उससे उत्पन्न जाति-व्यवस्था के अभेद किलें को भेदने की कोशिश की। उन्होंने उच्च वर्गों के शिकंजे को झकझोरा व भारतीय समाज में समता की अलख जगाई। यही विचार उग्र और नागार्जुन के हैं। उन्होंने भी वर्ण-व्यवस्था की कटु आलोचना की है। उग्र भी ऐसी किसी व्यवस्था को नहीं मानते जो कर्म पर आधारित न हो। इसलिए उग्र ने ऐसी वर्ण-व्यवस्था पर जमकर प्रहार किया है। वे मानते हैं कि व्यक्ति की पहचान वर्ण से न होकर कर्म से होनी चाहिए। 'फागुन के दिन चार' नामक उपन्यास में लेखक ने अन्तर्जातीय विवाह करवाकर एक तरह से वर्ण-व्यवस्था पर ही चोट की है। आर्थिक लोभ के लिए इस उपन्यास के पात्र दूसरी जातियों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ये पात्र पति-पत्नी न हों, लेकिन सफल दाम्पत्य का अभिनय जरूरी करते हैं। "ऐश करने वाले पति तो बम्बई में ही नजर आते हैं। और कलकता में..... ? शादो निदार"ⁱⁱ इस तरह लेखक का दलितों के प्रति उदार दृष्टिकोण रहा है। उग्र की तरह ही नागार्जुन की दृष्टि में भी वर्ण-व्यवस्था का कोई महत्त्व नहीं। लेकिन उनकी दृष्टि में – "समाज उन्हीं को दबाता है, जो गरीब होते हैं। शास्त्रकारों को बलि के लिए बकरी ही नजर आए। बाघ और भालू का बलिदान किसी को नहीं सूझा।"ⁱⁱⁱ नागार्जुन ने अप्रत्यक्ष रूप से ब्राह्मणवाद की नियमों के टूटने का भी संकेत किया है। 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में बाबा रति से कहता है – "बाबा ने चलते-चलते रतिनाथ का कन्धा पकड़ लिया और थोड़ा रूक गए। बोले – घोर कलियुग आ गया है, आज नहीं तो कल ब्राह्मण भी हल जायेंगे। देख लेना। अंग्रेजी पढ़े-लिखे ब्राह्मण, सुना है, प्याज-लहसुन खाते हैं। मुर्गी का अंडा खाते हैं..... इतना कहकर बाबा ने फिर थूक दिया।"^{iv} समाज भी उन्हीं को दबाते हैं जो आर्थिक रूप से कमजोर होते हैं।

नागार्जुन ने वर्ण-व्यवस्था की विभिन्न कमजोरियों को अपने उपन्यासों के पात्रों के माध्यम से उजागर कर तत्कालीन युगबोध को वाणी दी है। 'बलचनमा' उपन्यास में वर्ण-व्यवस्था की गन्दगी को ही दर्शाया है। निम्न वर्ग हमेशा ही उच्च वर्ग के अत्याचारों का साक्षी रहा है। इनके पास न तो रोटी है न मकान। बल्कि ये लोग उच्च वर्ग की जूठन खाने को भी तरसते रहते हैं। लेखक बलचनमा से इसी ओर संकेत करवाते हुए कहलवाता है – "हमारे तरफ छोटी जात वाले बड़ी जात वालों का जूठन खुलकर खाते थे। अब पंचायत ने इस पर रोक लगा दिया है। पर मैं तो यह बहुत पहले की बात कह रहा हूँ। बचपन में मालिक लोगों की बहुत जूठन मैंने खायी है। बल्कि यों कहूँ कि अच्छी चीज जो भी खाई होगी वह बाबू लोगों की जूठन ही रही होगी। इन लोगों के यहाँ दामाद, बहनोई, समधी या ससुर जैसे मेहमान आते ही रहते हैं। उनके आने पर बढ़िया से बढ़िया कोठार से निकलता। अरहर की पुरानी दाल निकलती। कुँजड़ा से कहकर अच्छी तरकारी मँगवाई जाती। मछुओं से अपने तालाब में रोहू मछली पकड़वायी जाती। दही, दूध, घी का तो कहना ही क्या। इस तरह मालिक के घरों में 'महामहोच्छव' होता रहता। ऐसे अवसरों पर हम अभागों का भाग्य चमक उठता। कायदे के अनुसार मेहमानों के आगे खाने-पीने की चीजें अधिक ही रखी जाती थीं। वह आधी या चौथाई ही खा पाते। बाकी, जो बचता उससे हमारे जैसों की जीभ का सराध होता।"^v इस उपन्यास का पात्र जुगल भी दबा हुआ है और जिन्दगी भर उच्चवर्ग के लिए बेगारी करता हुआ मृत्यु को प्राप्त करता है। बलचनमा उसके बारे में बताते हुये कहता है – "जुगल कामत केवट थे। छोटे मालिक ने दस कट्ठा खेत द रखा था। इसी घर से उनकी परबरिस होती थी। इन्हीं के यहाँ मंजूरी-बनिहारी करके बेचारे का निरबाह होता था। अकाल-विकाल, बेर-कुबेर, रात-विरात, समय-कुसमय जभी जरूरत पड़ती, मलिकाइन कामत को बुलवा लेती। कर्ज और गुलामी में सिर से पैर तक डूबा हुआ यह आदमी मलेरिया की हड़डीतोड़ बीमारी में गल-पचकर जब मरा तभी छुटकारा पा सका।"^{vi} और तो और छोटी जात वालों के यहाँ वैद्य जी भी नहीं जाते थे। गाँव में ही एक बूढ़े वैद्य का काम करते थे। लेकिन छोटी जाति वालों के यहाँ जाकर भला बीमार की नाड़ी वह क्यों देखने लगे। "गाँव में ही एक बूढ़े थे जो वैद्य का काम करते थे। लेकिन छोटी जाति वालों के यहाँ जाकर भला बीमार की नाड़ी वह क्यों देखने लगे ? अपनी दादी के लिए दवा मैं उन्हीं से लाया था। वरसात का अन्त था। भादों की धूप कितनी कड़ी होती है। एक रोज दोपहरिया में डेढ़ पहर तक पंडितजी ने मुझसे काम लिया। काम क्या था ? यही कि भदई धान की दँवरी करवानी थी। काम खत्म होने पर उन्होंने मुझे दवा की तीन पुड़ियाँ थमाई। डर था कि मुझे भी बुखार आ घेरेगा मगर हम तो कठ जीव ठहरे। मामूली बुखार भले हमारे पास क्यों फटकेंगा ? मेरी जगह किसी मालिक-बालिक का लड़का होता और उसी तरह भादों की तपती दुपहरिया में दँवरी करता तो बिना बिछावन पकड़े न रहता।"^{vii} यही हाल उग्र के उपन्यास 'मनुष्यानन्द' में भंगी समाज का था। उग्र उनकी पीड़ा को उकेरते हुए लिखते हैं— "अगर इस वक्त यहाँ पर स्त्री और बच्चों को छोड़कर नौसौ दलित भी हों, तो यह निश्चय है कि उनमें से आठसौ से ऊपर लोग एक या एक-से-अधिक बार सरकारी नरकों-जेलों-की सैर किए हुए होंगे। क्या मुझे उन लोगों को यह बताना होगा कि जेलों में भी अभागे कैदियों को उतने ही कपड़े मिलते हैं जितने की चर्चा मैंने अभी की है। और क्या यह भी मुझे बताना होगा कि वहाँ उतने ही कपड़े किस तरह सफाई से रखे और व्यवहार में लाए जाते हैं ? कपड़े तो अगर रोज पानी ही से जरा ध्यानपूर्वक साफ कर लिए जाएँ, तो, गन्दे नहीं रह सकते। साबुन और धोबियों का चलन तो अब चला है। पहले सब लोग अपनी सफाई स्वयं ही कर लेते थे। मेरा कहना

है, कि अगर, अपने काम निपटाकर, हम लोग रोज स्नान कर लिया करें और अपने तथा बच्चों के कपड़ों को धो लिया करें, तो, हमारी गन्दगी बिल्कुल दूर हो जाय।^{viii} भारतीय जनमानस में जाति-प्रथा सबसे अधिक विनाशकारी और घातक है। विडम्बना यह है कि जो लोग सिद्धान्त रूप में उसे नहीं मानते, किन्तु व्यवहारिक रूप से जाति-पाँति पर चलते हैं। कहने को तो आज हर व्यक्ति जाति-प्रथा के विरुद्ध है लेकिन जाति-प्रथा फिर भी जीवित है। “छुआछूत की समस्या का श्रेय मुख्य रूप से हिन्दू धर्म में स्वीकृत वर्ण व्यवस्था को जाता है। इस वर्ण व्यवस्था का जन्म आरम्भ में कार्य विभाजन के आधार पर हुआ था। जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि कार्यों के अनुरूप वर्ण व्यवस्था का स्वरूप निश्चित था। आवश्यकतानुसार मनुष्य अपना वर्ण बदल सकता था। इसमें संकीर्णता या कठोरता नहीं थी। उत्पादन के साधनों के विकास के साथ ही विभिन्न व्यवसायों का विकास हुआ जिससे एक विशेष प्रकार के व्यवसाय को करने वाले लोगों की एक अलग जाति मानी जाने लगी। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था के रूप में विस्तार पाकर और जटिल बन गई। आगे चलकर वर्ण व्यवस्था कर्मणा न होकर जन्मना बन गई।^{ix} इसी विकृति की तरफ संकेत करते हुये उग्र जी अपने उपन्यास के पात्र मनुष्यानन्द से कहलवाते है – “इस देश में इकतीस करोड़ अछूत हैं।..... छः करोड़ तो ऐसे हैं जिन्हें इस देश के हिन्दू नामधारी मूर्ख अछूत समझते हैं, पर बाकी के पच्चीस करोड़ ऐसे अछूत हैं जिन्हें सारा संसार अस्पृश्य, पतित, पृथ्वी का भार और गुलाम समझता है। प्रकृति भी, ईश्वर भी थप्पड़ का जवाब पत्थर से देता है महोदय। हम छः करोड़ से नफरत करते हैं, हमसे सारा संसार नफरत करता है। हम नफरत बोते हैं, नफरत काटते हैं।^x इस तरह यहाँ लेखक ने निम्न जाति की व्यथा, पीड़ा एवं शोषण को उजागर किया है। जब इस शोषण से त्रस्त दलित हिन्दू धर्म को हेय की दृष्टि से देखने लगे। अशिक्षा, निर्धनता और अन्धविश्वास के कारण दलित अपना धर्म त्यागकर ईसाई धर्म अपनाने लगे। जबकि उग्र की दृष्टि में ईसाई धर्म भी उनका हित नहीं कर सका। पादरी जानसन के माध्यम से उग्र जी ‘मनुष्यानन्द’ उपन्यास में लिखते हैं – ‘मेरी राय में तो आप और आपकी मुक्ति फौज वाले इन अभागों को हिन्दू-अछूत से उठाकर ईसाई अछूत बना देते हैं। कितने ऐसे अछूत आप पेश कर सकते हैं जिन्हें आपने अपनी जाति में मिलाकर समाज में बराबरी का पद दिलवाया हो ? मेरा तो ख्याल है – नहीं के बराबर। फिर, केवल ईसाइयों की संख्या बढ़ाने के लिए इन्हें अपने दल में घसीट रहे हैं। यह शुद्ध सेवा नहीं है जिसका कि आपके धर्म ग्रन्थ में महत्त्व है।^{xi} नागार्जुन के समय में जाति-व्यवस्था के नियम इतने कड़े थे कि अगर उच्च जाति का व्यक्ति भी धर्म विरुद्ध धार्मिक ठेकेदारों द्वारा बनाये गये नियमों को तोड़े तो उसका भी बहिष्कार कर दिया जाता था। ‘रतिनाथ की चाची’ उपन्यास में स्वर्ण पात्र भवदेव जब बंगाली जाति की स्त्री से विवाह कर लेता है तो उसका समाज उसे अपने समाज से बहिष्कृत कर देता है। इसी ओर संकेत करते हुये नागार्जुन लिखते हैं – ‘पूर्णिमा में ही भवदेव की शादी हो गई। बस, फिर क्या था ? उठा शंभुकरपु में तूफान! लोगों ने कहना शुरू किया – बंगाली की लड़की से जयदेव ने अपने लड़के की शादी करा दी। लड़की का बाप किरिस्तान है और अण्डा खाता है। बाल-बच्चे समेत इतवार के दिन गिरजा जाता है।इस चर्चा ने इतना तूल पकड़ा कि चाची की कलंक-कथा उसके आगे बिल्कुल फीकी पड़ गई। समाजपतियों ने तुलसी, ताम, गंगाजल उठाकर आपस में शपथ खायी – यदि लड़का शादी करके आया, और बाप ने उसे अपने घर में घुसने दिया, तो जयदेव के यहाँ का अन्न-जल हममें से जो भी ग्रहण करे, वह गो मांस खाय। तीन बार सविधि उच्चारणपूर्वक यह शपथ ली गई थी – दमयन्ती के दरवाजे पर। दमयन्ती ने भी शपथ ली थी।^{xii} इस तरह स्वर्ण जाति वाले भी वर्ण-व्यवस्था के कुचक्र में फंसकर अपने ही समाज को बांट रहे थे इस बांट को उग्र ने ‘मनुष्यानन्द’ उपन्यास द्वारा पग-पग पर वाणी दी है। बुधुआ अपने निम्न जाति की पीड़ा को और समाज की स्वर्ण जाति की मानसिकता को प्रकट करते हुए कहते हैं- “मैं आपको यह बतलाना चाहता हूँ कि क्या करने से इस सामाजिक नरक से हमारा उद्धार होगा। हमारे लिए सबसे जरूरी बात यह है कि हम सब तरह की गन्दगियों को छोड़कर सफाई का जीवन बिताना सीखें। आप कहेंगे – अघोड़ी बाबा के साथ रहकर बुधुआ बढ़ा-चढ़ाकर बातें हाँकने लगा है। भला, ज्यादा-से-ज्यादा पाँच, सात या दस रूपये महीने कमाने वाला गरीब परिवारी किस तरह उस सफाई का जीवन बिता सकता है, जिसे केवल अपनी ही सम्पत्ति समझकर अपने को ‘ऊँच’ कहने और समझने वाले हमें ‘नीच’ और अपवित्र कहते हैं। मगर नहीं, आपका ऐसा सोचना व्यर्थ भी होगा, आपके हितों का घातक भी। सफाई का सम्बन्ध, पैसे से अधिक मन से है। एक धोती, एक कुरता और एक ही अँगोछा रखनेवाला प्राणी भी – अगर जरा सा हाथ-पैर हिलाने में आलस्य न करें तो – साफ और खूब साफ रह सकता है।^{xiii} उग्र एवं नागार्जुन ने अपने उपन्यासों के माध्यम से समाज को घुन की भाँति खोखला कर रही जातिगत अछूत समस्या को चित्रित किया है। विभिन्न सामाजिक कुरीतियों एवं कुप्रथाओं के सदृश जाति भेद की समस्या अत्यन्त भयावह है। जातिगत भेदभाव के कारण मनुष्य द्वारा मनुष्य को छोटा बनाकर लाँछित एवं अपमानित करने की लज्जाजनक दुष्परम्परा अपने धिनौने रूप में प्रायः देश में प्रचलित है जिसकी सच्ची तस्वीर दोनों ने अपने उपन्यासों में खींची है। ऊँच-नीच, कुलीनता-अकुलीनता, छुआछूत की अमानवीय कुप्रथाओं का वर्णन एवं खण्डन उनके उपन्यासों में सर्वत्र हुआ है। इन्होंने अछूतों के दर्द को महसूस करते हुए जाति प्रथा का न केवल विरोध किया है बल्कि अपने ऊपर हुए अत्याचारों का प्रतिकार करने को भी प्रोत्साहित किया। यह तत्कालिक समाज की जरूरत भी थी। बेचन और नागार्जुन के समय की सबसे अधिक विकृत विसंगति थी ‘अछूत समस्या’, जिसमें निम्न जाति के लोगों का हर तरीके से शोषण किया जाता था। इस समस्या के परिणामों को दोनों उपन्यासकारों ने भोगा तो नहीं था, लेकिन अनुभव जरूर किया था। ‘बुधुआ की बेटा’ नामक उपन्यास में उग्र ने इस समस्या को वाणी दी है। लेखक ने कहलवाया है – “नाश हो ऐसे देहाती या शहराती पापी ऊँचों का! जो हमसे नीच काम कराकर भी हमें आदमी की तरह खाने-पीन, पहनने नहीं देते। ऐसों ही के होश ठिकाने लाने के लिए तो बाबा अघोड़ी, शहर के कुछ भले आदमी और हम उद्योग कर रहे हैं।” इस अघोड़ी बाबा द्वारा भंगियों के उद्धार के लिए अछूतोंद्वारा आन्दोलन चलाया जाता है।^{xiv}

इस उपन्यास में लेखक ने अछूतों की समस्याओं का ही निरूपण नहीं किया, बल्कि उनका निराकरण भी सुझाया है। उग्र ने उच्च वर्ग की भर्त्सना की है। घनश्याम ऐसा ही उच्चवर्गीय पात्र है जिसमें सभी विकृतियाँ कूट-कूट कर भरी हुई हैं। वह बुधुआ की बेटी को अपने प्रेम में फांसकर उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। “घनश्याम दोनों हाथों से उस भोली बालिका की अछूती जवानी..... का अनुपम उन्माद लूटने लगा। उसका बस चलता तो वह एक ही घूँट में सौन्दर्य की उस अनुपम सुरा भरी सजीव सुराही को..... पी जाता।”^{xv}

लेखक की इच्छा थी, कि “अछूत स्वयं सँभलें, अपने आपको मनुष्य घोषित करें और संगठित होकर, संसार के अच्छे से अच्छे लोगों में आदर पाने योग्य बनें। परस्पर गाली-गलौच, लतम जुत्तम के स्थान पर सहयोग और सभ्य व्यवहार को अपनाएं। वे अपने बच्चों को कोई कला-कौशल सिखलाएँ और शिक्षा दिलाने का उद्योग करें।”^{xvi} उनके आलस्य पर तीखा व्यंग्य करते हुए उग्र जी कहते हैं – “तुम अछूत बने हो अपनी लापरवाही से। नहाते तुम नहीं, हमेशा गन्दगी में लिपटे रहते हो, ऐसी हालत में रहने वाले को समाज में अछूत ही समझा जाएगा। फिर भले ही वह संसार के किसी भी भाग में क्यों न पैदा हुआ हो।”^{xvii}

इस तरह उग्र ने संदेश दिया है कि जब तक यह जाति अपने अधिकारों के प्रति एवं शिक्षा की अनिवार्यता नहीं समझेगी तब तक इनका उत्थान होना असम्भव है।

नागार्जुन के उपन्यासों में भी उग्र के उपन्यासों की तरह ही अछूत समस्या को समाज को कोढ़ बताया गया है। यद्यपि नागार्जुन के दलित पात्र कमजोर भले ही हों, लेकिन उच्चवर्ग में फैली विकृतियों को भली-भाँति जानते हैं। इसके साथ-साथ वे स्वर्णों से निडरतापूर्वक उनकी विकृतियों का भण्डाफोड़ भी करते हैं। ‘रतिनाथ की चाची’ में चमाइन नामक दलित पात्रा उच्च वर्ग की विकृतियों को आरेखित करती हुई कहती है – भला यह भी क्या कहने की बात है, मलिकाइन ? आपकी बदनामी क्या हमारी बदनामी नहीं है ? पर एक बात कहती हूँ, माफ करना, बड़ी जात वालों की तुम्हारी यह बिरादरी बड़ी मलिच्छ, बड़ी निटुर होती है मलिकाइन! हमारी भी बहू-बेटियाँ राँड़ हो जाती हैं, पर हमारी बिरादरी में किसी के पेट में आठ-आठ नौ-नौ महीने का बच्चा निकालकर जंगल में फेंक आने का रिवाज नहीं है। ओह, कैसा कलेजा होता है तुम लोगों का! मइया री मइया!^{xviii}

वर्ण व्यवस्था में शूद्रों को वेद पढ़ने की भी मनाही है। मन्त्र, पूजा, अर्चना, संस्कार करने कराने का अधिकार, सिर्फ ब्राह्मण वर्ग को ही प्राप्त है। इसी ओर संकेत करते हुये नागार्जुन कुल्ली रावत के चरित्र पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं – “कुल्ली राउत को साथ कर दिया। यह खवास सत्तर साल का था। बातचीत, रंग-ढंग और बनाव-देखाव ऐसा था कि अपरिचित लोगों को भ्रम हो जाता कि यह ऊँची जाति का कोई आदमी है। उसे संस्कृत के कई श्लोक याद थे। जनेऊ का मंत्र वह जानता था ओर, कहते संकोच होता है, गायत्री भी उसे आती थी। संकोच इसलिए कि जिस गायत्री के लिए ब्राह्मण बटुकों का उपनयन संस्कार होता है, जो सिर्फ द्विजों की चीज है, उस महान् प्रणव को एक शूद्र जान जाय, यह असह्य है। जाने कैसे उसने सीख ली थी। जयनाथ से इस बात की किसी ने शिकायत की, तो वह फुफकार उठे – साले की चमड़ी उधेड़ लूँगा। शूद्र है तो शूद्र की भाँति रहे।”^{xix} इस प्रकार नागार्जुन ने सिद्ध किया है कि स्वर्ण जाति किस तरह धर्म की आड़ में अछूतों का शोषण करती थी। यह शोषण आज भी किसी न किसी रूप में वर्तमान है। इस उपन्यास का पात्र कुली रावत पढा-लिखा एवं संस्कारी है, लेकिन जाति से निम्न होने के कारण उसे वह सम्मान प्राप्त नहीं होता। वह सोचता भी है – “अगर यह भी ब्राह्मण के घर में पैदा हुआ होता, तो निश्चय ही इसके बदन पर फटे-पुराने कपड़े न होते। हमारी जूठन खाकर, हमारी पहिरन पहनकर इसके बच्चे पलते हैं। उन्हें कभी स्कूल और पाठशाला जाने का अवसर नहीं मिलता। क्या मर्द, क्या औरत। इन लोगों का जीवन बड़ी जातिवालों की मेहरबानी पर निर्भर है.....”^{xx}

इस प्रकार दोनों ने दलितों के अधिकारों की बात ही नहीं की, बल्कि दलितों को अपने अधिकारों हेतु लड़ने की प्रेरणा दी है। उग्र के उपन्यास ‘मनुष्यानन्द’ का पात्र अघोड़ी इसी अधिकारी लड़ाई का प्रतिनिधित्व कर रहा है। उग्र के शब्दों में – “अघोड़ी की आँखों में मानव तेज की चिनगारियाँ बरस रही थीं मानो स्वयं भगवान् शंकर बुधुआ को कंधे पर चढ़ाए उस जुलूस के साथ भीड़ की तरफ जा रहे थे। देखने वाले उस नजारे को स्तब्ध होकर देखते रह गए इस तरह मानो जीवित जन नहीं काठ के पुतले हों। लोगों को आश्चर्य में डालता हुआ अछूतों का जुलूस मंदिर में घुस गया। क्षण भर तक वहाँ के रक्षक, पंडे ऐसे हतबुद्धि रहे कि उन्हें कुछ कर्तव्याकर्तव्य सूझा ही नहीं। वह होश में आए और सँभले तब तक जुलूस वहाँ से गायब हो गया। मंदिर ज्यों का त्यों है। वहाँ की एक भी चीज न घटी न बढ़ी है, फर्श जैसा का तैसा है, मानो उस पर किसी के पैर पड़े ही नहीं। बड़ी हलचल मची है वहाँ पर पंडों में इस बात को लेकर कि मंदिर अपवित्र हुआ या नहीं, कुछ लोगों का कहना है कि अघोड़ी ने मंदिर की बाहरी परिक्रमा के झरोखे से बुधुआ को दर्शन कराए थे।”^{xxi} इसके अतिरिक्त उग्र उच्च वर्गों की धार्मिकता की आलोचना भी करते हैं – “नाश हो ऐसे देहाती या शहराती पापी ऊँचों का! जो हम से नीच-से-नीच काम करार भी हमें आदमी की तरह खाने-पहनने नहीं देते। ऐसों ही के होश ठिकाने लाने के लिए तो बाबा अघोड़ी, शहर के कुछ भले आदमी और हम उद्योग कर रहे हैं।”^{xxii} इस प्रकार नागार्जुन एवं उग्र जाति में विश्वास न कर, सभी धर्मों को एक दृष्टि से देखते थे, यहाँ तक कि दोनों खान-पान और विवाह में भी पक्षपात नहीं करते थे। इन्होंने ऊँची जाति वालों का खुलम-खुल्ला विरोध किया है। उग्र का ‘मनुष्यानन्द’ उपन्यास अछूत समस्या को ही केन्द्र में लेकर चलता है। इसी उपन्यास का निम्नवर्गीय पात्र जब मरते समय बाबा विश्वनाथ के दर्शन की इच्छा जताता है तो उच्च वर्ग को यह गवारा नहीं। उच्च वर्ग का जन समूह बुधिया की यह इच्छा पूरा करने में अनेक बाधाएँ डालता है। “इसके दूसरे ही दिन से तो सारे शहर में हड़ताल की चर्चा चल पड़ी और अमीर-गरीब, पण्डे-पुरोहित, बाबू-भैया सभी उत्सुक और चिन्तित हो उठे। चकित भी – अरे! इतनी हिम्मत इन

पाजियों की! अरे! इनका यह आश्रम एकाएक कहाँ से तैयार हो गया!! अरे! इन्हें इतने रूपये मिले कहाँ से ? अरे! अरे!!^{xxiii} स्वर्ण जाति की दृष्टि में “हम जीते जी बाबा के मन्दिर को अशुद्ध नहीं होने देंगे.....। इस समाज के सभी धुनिए, जुलाहे हमारे तीर्थों पर कब्जा कर मनमानी करने लगेंगे।^{xxiv} लेकिन अघोड़ी बाबा बुधिया को विश्वनाथ के दर्शन करा ही देता है। “अछूतों का जुलूस मन्दिर में घुस गया और क्षण भर तक वहाँ के रक्षक और पण्डे ऐसे हतबुद्धि रहे.....।^{xxv} उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि उग्र और नागार्जुन ने अपने उपन्यासों द्वारा तत्कालीन समाज की संरचना को बड़े ही अच्छे ढंग से उकेरा है। जाति, वर्ण के नाम पर होने वाले झगड़ों को भी उग्र और नागार्जुन ने बड़ी सटीकता से अभिव्यक्ति देते हुए इनसे उत्पन्न खतरों से भी मानवजन को आगाह किया है। उग्र की दृष्टि में मानव-मानव होता है। उसकी पहचान कर्म से होती है। नागार्जुन ने भी मनुष्य जाति को वर्गों में बांटकर नहीं देखा, अपितु इंसान को इंसान ही बने रहने की प्रेरणा दी है। साथ ही जाति, वर्ण-व्यवस्था को भी समाज के लिए घातक सिद्ध किया है।

संदर्भ सूची

- ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, पृ० 59
- पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’, फागुन के दिन चार, पृ० 106
- सं० शोभाकांत मिश्र, नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ 1, पृ० 57
- वही, पृ० 58
- वही, पृ० 145
- वही, पृ० 147
- वही, पृ० 152
- पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’, मनुष्यानन्द, पृ० 141
- डॉ० करुणशर्मा, लक्ष्मीनारायण का नाट्य-साहित्य : सामाजिक दृष्टि, पृ० 92
- पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’, मनुष्यानन्द, पृ० 75
- वही, पृ० 75
- सं० शोभाकांत मिश्र, नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ, पृ० 76-77
- पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’, मनुष्यानन्द (बुधुआ की बेटी), पृ० 140
- वही, पृ० 142
- वही, पृ० 165
- पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’, मनुष्यानन्द (बुधुआ की बेटी), पृ० 120
- वही, पृ० 128
- सं० शोभाकांत मिश्र, नागार्जुन, चुनी हुई रचनाएँ 1, पृ० 33
- वही, पृ० 54
- वही, पृ० 54
- पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’, मनुष्यानन्द (बुधुआ की बेटी), पृ० 208-209
- वही, पृ० 142
- वही, पृ० 179
- वही, पृ० 195
- वही, पृ० 194